* * *

अपराजिता : वर्ष 53 अंक 01: 2025
स्थापना वर्ष : 1972 (प्रिंट), 2025 (ऑनलाइन)

उत्तर प्रदेश के अनुदानित महाविद्यालयों के स्ववित्तपोषित शिक्षकों की पीड़ा

डॉ. अखिलेश कुमार सिंह, डॉ धर्मेन्द्र प्रताप श्रीवास्तव
राजनीति विज्ञान विभाग

इस प्रदेश की शिक्षा व्यवस्था की सबसे करुण आवाज़ उस मौन में छिपी है, जिसे *अनुदानित महाविद्यालयों के स्ववित्तपोषित शिक्षकों* ने अपने आंतरिक आघातों से जन्म दिया है। उनके आँसू न अख़बारों की सुर्खियाँ बनते हैं, न ही उनके संघर्ष संसद की बहसों में गूंजते हैं। वे अपने कमरे की चारदीवारी में, एक अदृश्य युद्ध लड़ रहे हैं — आर्थिक अस्थिरता, सामाजिक उपेक्षा और मानसिक अवसाद का युद्ध। ऐसे सैकड़ों नहीं, हजारों उदाहरण हैं, जहाँ वर्षों से शिक्षण कार्य कर रहे शिक्षक आज आजीविका के लिए *प्राइवेट ट्यूशन*, *कोचिंग सेंटर*, *दुकानदारी*, *मोटरसाइकिल रिपेयरिंग*, *टेली कॉलिंग*, और यहाँ तक कि खेतों में मजदूरी करने को विवश हैं। भारतीय सभ्यता में शिक्षक को ईश्वर तुल्य माना गया है – "गुरु ब्रह्मा, गुरु विष्णु, गुरु देवो महेश्वर" का उद्घोष इस संस्कृति की बुनियाद में रचा-बसा है। लेकिन जिस समाज में शिक्षक के जीवन की गारंटी न हो, वहाँ यह आदर्श केवल भाषणों और पुस्तकों की शोभा बनकर रह जाता है। आज उत्तर प्रदेश में उच्च शिक्षा का जो स्वरूप उभरा है, उसमें सबसे उपेक्षित, शोषित और असहाय वर्ग बन चुके हैं – अनुदानित महाविद्यालयों में स्ववित्तपोषित योजना के अंतर्गत कार्यरत शिक्षक। बीते 25 वर्षों में जिस प्रकार इन शिक्षकों को नियोजित किया गया, उनसे कार्य लिया गया और अंततः उन्हें नियति के हवाले छोड़ दिया गया – यह लोकतांत्रिक और संवैधानिक समाज पर एक धब्बा है।

स्ववित्तपोषित योजना की उत्पत्ति और शिक्षा तंत्र में इसकी भूमिका

वर्ष 1997 में जब उत्तर प्रदेश सरकार ने अनुदानित महाविद्यालयों में स्ववित्तपोषित योजना के अंतर्गत नए पाठ्यक्रमों के संचालन की अनुमति दी, तब इसका उद्देश्य था उच्च शिक्षा के विस्तार में लचीलापन और नवाचार को बढ़ावा देना। इससे नए विषयों की शुरुआत हुई, तकनीकी व व्यावसायिक कोर्स जुड़े और युवाओं को स्थानीय स्तर पर विविध विकल्प मिलने लगे। वर्ष 2000 के बाद इन पाठ्यक्रमों में शिक्षकों का अनुमोदन प्रारंभ हुआ, जिसमें यह स्पष्ट किया गया कि इन पदों के लिए भी वही शैक्षणिक योग्यता और मापदंड लागू होंगे जो स्थायी शिक्षकों के लिए निर्धारित हैं... यहीं से शुरू होता है विडंबनाओं और अन्याय का एक लंबा सिलसिला... वर्ष 2000 से इन पाठ्यक्रमों में कार्यरत शिक्षकों को शासन द्वारा 'अनुमोदित' कर दिए जाने के बाद यह अपेक्षा बनी कि इनका दर्जा स्थायी शिक्षकों के समकक्ष होगा। लेकिन व्यवहार में इन शिक्षकों को सिर्फ कागजों पर 'मान्यता' मिली, न वेतनमान में समानता मिली, न सेवा शर्तों में सुरक्षा। यह अत्यंत दुर्भाग्यपूर्ण है कि जो शिक्षक नियमित छात्रों को पढ़ाते हैं, परीक्षा संचालन में भूमिका निभाते हैं, शोध निर्देशन करते हैं और विभागीय गतिविधियों का नेतृत्व करते हैं – उन्हें व्यवस्था ने केवल "अस्थायी और आर्थिक बोझ" के रूप में देखा।

वेतन का विडंबनात्मक ढांचा: 25 वर्षों में गिरता मानवीय स्तर

शिक्षण जैसे गहन बौद्धिक और मानसिक श्रम की अपेक्षा रखते हुए इन शिक्षकों को शुरुआत में मात्र रुपये 5000 मासिक वेतन पर नियुक्त किया गया। दुर्भाग्यवश, बीते 25 वर्षों में महंगाई, जीवनशैली और परिवारिक जिम्मेदारियों में बढ़ोत्तरी के बावजूद अधिकांश शिक्षकों का वेतन या तो स्थिर बना रहा या कुछ मामलों में और भी कम हो गया। यह एक ऐसा कटु सत्य है जिसे सुनकर न केवल विस्मय होता है, बल्कि शासन और समाज की संवेदनहीनता पर गहरा आघात भी पहुँचता है। महंगाई, पारिवारिक आवश्यकताओं, सामाजिक प्रतिष्ठा और मानसिक स्वास्थ्य – इन सभी पहलुओं की अनदेखी कर व्यवस्था ने शिक्षकों को केवल 'काम लेने की मशीन' बना दिया है। यह एक प्रकार का मानवीय शोषण है, जो किसी निजी उद्योग या दास प्रथा की याद दिलाता है। सोचिए, जिस देश में रूपये 400 प्रति दिन मनरेगा मजदूर की न्यूनतम मजदूरी है, वहाँ एक प्राध्यापक महीने में रुपये 5000 लेकर अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ रहा है! देश की सबसे बड़ी पंचायत ने 46 वर्ष पूर्व ठेका मजदूर (विनियमन एवम् उन्मूलन)अधिनियम 1970 पारित कर धारा 25 (5) अ में यह व्यवस्था दी थी कि यदि कोई मजदूर ठेकेदार द्वारा नियोजित है और वह प्रधान नियोजक द्वारा नियोजित श्रमिक के समान ही कार्य करता है तो उसे वेतन, छुट्टी, कार्यावधि वही प्राप्त होगी जो प्रधान नियोजक द्वारा नियोजित श्रमिक को मिलती है। आश्यर्य है ऐसी किसी व्यवस्था का संरक्षण इन अनुमोदित शिक्षकों को प्राप्त नहीं है।

सामाजिक सुरक्षा का अभाव: मृत्युपरांत भी उपेक्षा

अब तक ऐसे कई शिक्षकों की असामयिक मृत्यु हो चुकी है, जिनके पीछे बेसहारा परिवार छूट गए। ये शिक्षक किसी दुर्घटना, गंभीर बीमारी या अवसाद के शिकार हुए, लेकिन उनके लिए न कोई बीमा योजना थी, न अनुकंपा नियुक्ति का प्रावधान। उनकी मृत्यु के बाद न पत्नी को विधवा पेंशन मिलती है, न बच्चों को शैक्षिक सहायता। यह अत्यंत क्रूर और अमानवीय व्यवस्था है, जिसमें शिक्षा का प्रकाश फैलाने वाला स्वयं अंधकार में डूब जाता है। जबकि सरकारी शिक्षकों के लिए मृत्यु के उपरांत परिजनों को पेंशन, बीमा, अनुकंपा और राहत राशि जैसे अनेक प्रावधान हैं, स्ववित्तपोषित शिक्षक – जिनसे वही कार्य लिया जाता है – इन सभी से वंचित हैं। क्या यह संवैधानिक समानता के सिद्धांत के खिलाफ नहीं है?

ईपीएफ, सेवा शर्तें और नियमितीकरण की धोखाधड़ी

शासनादेशों में यह स्पष्ट किया गया कि स्ववित्तपोषित शिक्षकों को ईपीएफ, स्वास्थ्य सुविधा, अवकाश लाभ आदि दिए जाएं, किंतु यह केवल कागज़ों तक सीमित रह गया। अधिकांश महाविद्यालयों ने कभी ईपीएफ खाता खोला ही नहीं, या खोला भी तो कटौती करके स्वयं जमा नहीं की। वर्तमान में स्थिति यह है कि किसी भी शिक्षक को यह भरोसा नहीं है कि वे बूढ़े होने पर या अस्वस्थ होने पर जीवित रहने योग्य सहायता पा सकेंगे। कोई सेवा पुस्तिका नहीं, कोई अनुबंध नहीं, कोई निश्चितता नहीं। यहाँ तक कि कई शिक्षकों को हर सत्र के बाद *नवीन आवेदन और चयन प्रक्रिया* से गुजरना पड़ता है, मानो वे हर वर्ष नए हों। यह एक प्रकार का मानसिक उत्पीड़न है, जिससे शिक्षक के आत्मसम्मान और सुरक्षा की भावना को ठेस पहुंचती है।

शैक्षणिक गिरावट के पीछे नीतिगत भूलें

राज्य सरकार द्वारा घोषित किया गया था कि 16 किलोमीटर की परिधि में एक ही महाविद्यालय की अनुमति दी जाएगी, ताकि छात्रों और शिक्षकों की संख्या संतुलित बनी रहे। लेकिन व्यावहारिक धरातल पर इस नीति को बलात् कुचलते हुए हर कस्बे में दर्जनों निजी महाविद्यालय खोल दिए गए, जिनमें न मानक शिक्षक हैं, न भवन, न पुस्तकालय, न प्रयोगशालाएं। नतीजा यह हुआ कि अनुदानित

महाविद्यालयों की छात्र संख्या में भारी गिरावट आई और नए-नए पाठ्यक्रम बंद होने लगे। कई स्ववित्तपोषित शिक्षकों की नौकरी स्वतः समाप्त हो गई, जबकि वे वर्षों से सेवा दे रहे थे। वास्तव में यह नीति केवल शैक्षणिक ही नहीं, सामाजिक और आर्थिक त्रासदी भी बन गई है, जहाँ एक प्रशिक्षित मानव संसाधन को खपा देने का काम राज्य की नीतियां कर रही हैं।

जब अदालत का सम्मान भी न करे शासन: सुरेश चंद्र पांडेय बनाम उत्तर प्रदेश सरकार प्रकरण

उत्तर प्रदेश में अनुदानित महाविद्यालयों के *स्ववित्तपोषित शिक्षकों* की व्यथा केवल आर्थिक और सामाजिक ही नहीं, कानूनी अन्याय का भी गंभीर उदाहरण बन चुकी है। *सुरेश चंद्र पांडेय बनाम उत्तर प्रदेश सरकार* सहित अनेकों मामलों में माननीय उच्च न्यायालय, इलाहाबाद ने स्पष्ट रूप से यह निर्णय दिया है कि—"स्ववित्तपोषित योजना में कार्यरत अनुमोदित शिक्षकों को भी न्यूनतम वेतनमान दिया जाना चाहिए, क्योंकि वे समान कार्य कर रहे हैं। यह निर्णय शिक्षकों के पक्ष में एक ऐतिहासिक न्यायिक हस्तक्षेप था, जिसने यह स्थापित किया कि समान कार्य के लिए असमान वेतन, विशेष रूप से सरकार द्वारा अनुमोदित सेवा में, पूरी तरह असंवैधानिक और अमानवीय है। सरकार ने इस निर्णय को सम्मानपूर्वक लागू करने के बजाय अपने ही शिक्षकों के विरुद्ध *अवमानना वादों की श्रृंखला* शुरू कर दी। अपने द्वारा दिए गए शपथ पत्रों से मुकरना, बार-बार नया डाटा मंगवाना, कार्यान्वयन को टालना, यह सब मानो एक *प्रशासनिक खेल* बन गया है। प्रशासन यह जानबूझकर कर रहा है कि प्रक्रिया लंबी खिंचे, शिक्षक थक जाएं, पीछे हट जाएं और न्याय की जगह *हताशा और विवशता* उनका भाग्य बन जाए। यह एक तरह से न्यायपालिका के आदेशों की भी खुली अवहेलना है, और साथ ही *लोकतांत्रिक शासन की नैतिकता* का भी अपमान।

यह केवल शिक्षकों के साथ अन्याय नहीं है, बल्कि एक खतरनाक परंपरा की नींव है — कि राज्य स्वयं ही न्यायालय के आदेशों का पालन न करे। जब राज्य ही कानून तोड़े, तो आम नागरिक कानून पर कैसे विश्वास करे? यह स्थिति उत्तर प्रदेश सरकार के उस कथित *"सुशासन मॉडल"* की सच्चाई को भी बेनकाब करती है, जो न्याय और पारदर्शिता की बात तो करता है, लेकिन अपने ही शिक्षकों के विरुद्ध 'प्रशासनिक प्रतिशोध' में संलग्न हो जाता है।

समानता के आदर्श और दोहरी व्यवस्था का विरोधाभास

आज हम उस भारत की बात करते हैं जो *"एक देश, एक चुनाव"*, *"एक देश, एक कर (GST)"*, और *"सभी वाहनों पर एक जैसी नंबर प्लेट"* जैसी योजनाओं को समानता और एकरूपता के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत करता है। परंतु उसी देश के भीतर जब एक ही महाविद्यालय, एक ही भवन, एक ही कक्षा और एक ही छात्र समूह को पढ़ाने वाले दो शिक्षकों के बीच वेतन में 15 से 50 गुना तक का अंतर हो, तो यह विरोधाभास केवल नीतिगत नहीं, बल्कि संवैधानिक मूल्यों और नैतिकता का भी खुला उल्लंघन है। संविधान का अनुच्छेद 14 सभी नागरिकों को समानता का अधिकार देता है, और अनुच्छेद 21 'जीवन जीने के अधिकार' की गारंटी करता है। फिर कैसे एक शिक्षक रुपये 1.5 लाख प्रतिमाह वेतन और पेंशन लाभ पा रहा है, जबकि ठीक उसी भूमिका में कार्यरत स्ववित्तपोषित शिक्षक रुपये 5,000 पर काम करने को विवश है? यह केवल वेतन का नहीं, सम्मान और गरिमा के अधिकार का हनन है।

राजनीतिक संवेदनहीनता और वोट बैंक की सच्चाई

यह भी कटु सत्य है कि उत्तर प्रदेश की पूर्ववर्ती सरकारें – चाहे वह समाजवादी पार्टी की रही हो या बहुजन समाज पार्टी की – स्ववित्तपोषित शिक्षकों की पीड़ा को सुनने और समाधान की दिशा में कोई ठोस कदम उठाने से केवल इसलिए बचती रहीं

क्योंकि उन्हें लगता था कि यह वर्ग उनके पारंपरिक वोट बैंक का हिस्सा नहीं है। यह न केवल दुर्भाग्यपूर्ण है, बल्कि लोकतंत्र के विचार की भी अवमानना है, जहाँ कल्याण न जाति देखे, न वर्ग, बल्कि केवल ज़रूरत और न्याय पर आधारित हो। और यह तब और दुखद होता है जब मौजूदा सरकार, जो "सबका साथ, सबका विकास" की बात करती है, वही इन शिक्षकों की पीड़ा पर मौन धारण कर लेती है। सत्ता में बैठे लोगों का यह व्यवहार न तो भारतीय जनता पार्टी के संस्थापक नेताओं – दीनदयाल उपाध्याय, अटल बिहारी वाजपेयी या श्यामा प्रसाद मुखर्जी – के विचारों के अनुरूप है, और न ही यह रामराज्य की परिकल्पना से मेल खाता है।

विश्वविद्यालय खोलने की होड़ बनाम शिक्षकों की उपेक्षा

वर्तमान सरकार का एक बड़ा सपना है – "हर जिले में विश्वविद्यालय"। इसके लिए करोड़ों रुपये के बजट को 'राशि की कोई कमी नहीं' कहकर स्वीकृत किया जा रहा है। नए परिसरों, दीक्षांत समारोहों और नामकरण की राजनीति में शिक्षा को एक प्रतीकात्मक महोत्सव बना दिया गया है। लेकिन जब बात इन शिक्षकों के वेतन, सुरक्षा और सम्मान की आती है, तो सरकार वित्तीय विवशता का रोना रोती है। यह दोहरा मापदंड दिखाता है कि शिक्षा को सरकार ने बुनियादी मानवीय सेवा के बजाय केवल बौद्धिक आडंबर का औजार बना दिया है। सवाल तो बनता है जिन सरकारों के पास भवन, पत्थर और पट्टिका लगाने के लिए पैसा है, उनके पास इन शिक्षकों की पारिवारिक गरिमा और जीवन सुरक्षा सुनिश्चित करने के लिए संसाधन क्यों नहीं हैं?

शिक्षकों की चुप्पी नहीं, अब एक सामाजिक आंदोलन ज़रूरी

रात के बाद दिन और दुःख के बाद सुख एक क्रमिक प्रक्रिया है, सबरी को राम मिले, पत्थर की अहिल्या को राम का स्पर्श मिला, द्रौपदी की लाज भी कृष्ण ने बचा ही ली, बुद्ध की तपस्या भी सफलीभूत हुई, अजामिल को मुक्ति मिल ही गयी, दुनिया को तारने वाले राम खुद इसी प्रदेश में फटी टेंट के नीचे छत के लिए प्रतीक्षित थे, इसी सरकार ने भव्य राम मंदिर का निर्माण करा राम की उस सबरी प्रतीक्षा का अंत कराया, प्रदेश के मुखिया की नजर जंगलों में रहने वाले बनटांगिया जनजातियों पर भी पड़ी जो सभ्यता के पैमाने से कोशों दूर थे, फिर इन अनुदानित महाविद्यालयों के स्ववित्तपोषित शिक्षकों की पीड़ा अंतहीन क्यों? इनके हिस्से कोई राम क्यों नहीं? क्या आर्तनाद करते इन शिक्षकों के चीत्कार के बीच नई शिक्षा नीति के उद्देश्य हासिल किये जा सकेंगे? जब एक शिक्षक अपनी योग्यता, अनुभव और समर्पण के बाद भी अपने बच्चों के भविष्य के लिए दाने-दाने को मोहताज हो, तो यह किसी एक व्यक्ति की नहीं, पूरे समाज की नैतिक पराजय है। एक ऐसे समाज की, जो अपने रक्षक को अपमानित कर रहा है; एक ऐसी सरकार की, जो ज्ञान के वाहक को दया का पात्र बना रही है; और एक ऐसे तंत्र की, जो मानव संसाधन को केवल "बजट का भार" मान रहा है। स्ववित्तपोषित शिक्षक वर्षों से अपमान, पीड़ा और उपेक्षा सहते आए हैं। अब समय है कि यह पीड़ा केवल दीवारों में कैद न रहे, बल्कि एक व्यापक सामाजिक आंदोलन में बदले। छात्रों, अभिभावकों, प्रबुद्ध नागरिकों, जनप्रतिनिधियों और मीडिया को इस शोषण के खिलाफ आवाज़ उठानी चाहिए। जब तक शिक्षक को सम्मान और सुरक्षा नहीं मिलेगी, तब तक शिक्षा व्यवस्था कभी सुदृढ़ नहीं बन सकेगी।

समाधान की दिशा: अगर शासन चाहे तो...

अब प्रश्न उठता है कि क्या इस अन्याय की भरपाई संभव है? उत्तर है – हाँ, यदि शासन इच्छाशक्ति दिखाए और समाज शिक्षक के सम्मान के लिए मुखर हो। इस दिशा में निम्नलिखित कदम आवश्यक हैं:

1. न्यूनतम वेतन सुनिश्चित किया जाए जो कम से कम उतना तो हो जितना इस पद के सापेक्ष किसी

नए प्राध्यापक को सरकार द्वारा दिया जाता है, ताकि शिक्षक सम्मानपूर्वक जीवन यापन कर सकें।

2. EPF, चिकित्सा सुविधा, बीमा और पारिवारिक सुरक्षा योजनाओं को अनिवार्य रूप से लागू किया जाए।

3. अनुदानित महाविद्यालयों में स्ववित्तपोषित योजना की नयी मान्यता बंद की जाय जिससे शिक्षण जैसे आकर्षक पेशे के मोहपाश में आने वाली पीढयों का भावी जीवन बर्बाद न हो।

4. सेवा शर्तों का स्पष्ट निर्धारण किया जाए, जिसमें पदोन्नति, स्थायीत्व और स्थानांतरण की प्रक्रिया हो।

5. मृतक शिक्षकों के परिजनों को राहत राशि एवं आश्रितों को अनुकंपा नियुक्ति का प्रावधान किया जाए।

6. स्ववित्तपोषित शिक्षकों के संगठन और आवाज़ को विधिक मान्यता और संरक्षण दिया जाए, ताकि वे अपनी बात सही मंचों पर रख सकें।

7. राजकीयकरण अथवा अंशकालिक नियमितीकरण योजना तैयार की जाए।

8. महाविद्यालयों में मानक निरीक्षण और नीति अनुपालन सुनिश्चित किया जाए।

जब शिक्षक रोता है, तब शिक्षा मरती है

प्रदेश के मुखिया ने 5 सितम्बर 2024 सार्वजानिक मंच से शिक्षक के प्रति सम्मान व्यक्त करते हुए कहा था "ट्रेड यूनियन का हिस्सा न बनें शिक्षक, सरलता से लिखा हुआ मुद्दों पर आधारित आपका ज्ञापन सरकार के लिए आदेश होगा" अलीगढ में राज्य शिक्षक सम्मान देते समय मंच से उतर क़र शिक्षक के पास पहुंचे तो उम्मीद और बलवती हुई कि इन चीत्कार कर रहे शिक्षकों की पीड़ा का भान भी लोकप्रिय मुख्यमंत्री को होगा. किन्तु 2000 से अधिक डाक द्वारा भेजे गए पत्र, 1500 से अधिक ईमेल, 100 से अधिक रक्षा सूत्र 10 से अधिक जनता दर्शन के कार्यक्रमों में प्रतिभागिता और संगठन के पदाधिकारियों की लगातार शासन प्रशासन से याचना के बावजूद किसी तार्किक परिणति तक न पहुँच पाना हर उठती हुई उम्मीद पर तुषारापात कर देता है।

देश की आत्मा शिक्षा में बसती है, और शिक्षा का केंद्र बिंदु होता है शिक्षक। पर जब वही शिक्षक स्वयं शोषण और उपेक्षा का शिकार हो जाए, तो यह किसी भी सभ्य समाज के लिए आत्ममंथन का समय होता है। उत्तर प्रदेश के अनुदानित महाविद्यालयों में स्ववित्तपोषित योजनांतर्गत कार्यरत शिक्षकों की स्थिति आज एक गंभीर मानवीय और नीतिगत त्रासदी का रूप ले चुकी है। बीते ढाई दशकों में ये शिक्षक न केवल शिक्षण कार्य का प्रमुख भार उठाते रहे, बल्कि स्थायी शिक्षकों की तुलना में अधिक दायित्व निभाते हुए भी शासन और समाज से लगातार उपेक्षा झेलते आए हैं। इस लेख का उद्देश्य केवल आलोचना करना नहीं है, बल्कि शासन को एक मानवीय और नैतिक दृष्टिकोण से सचेत करना है कि यदि उसने अब भी इन शिक्षकों की वेदना को नहीं समझा, तो न केवल शिक्षा व्यवस्था का ढाँचा टूटेगा, बल्कि समाज में न्याय, समानता और लोकतंत्र के प्रति लोगों का भरोसा भी कमजोर पड़ेगा। अब समय है कि शासन यह समझे – शिक्षा केवल भवनों से नहीं, बल्कि शिक्षकों के संबल, सम्मान और संरक्षण से चलती है।

आज उत्तर प्रदेश की उच्च शिक्षा व्यवस्था पुनर्विचार की मांग कर रही है। शासन, समाज और संस्थानों को मिलकर यह तय करना होगा कि वे कैसी पीढ़ी तैयार करना चाहते हैं – उपेक्षित शिक्षकों द्वारा पढ़ाए गए भ्रमित युवाओं की, या प्रेरणादायी मार्गदर्शकों द्वारा पोषित जागरूक नागरिकों की। क्योंकि जब शिक्षक रोता है, तब शिक्षा मरती है और जब शिक्षा मरती है, तब समाज अपना विवेक खो देता है।

* * *